वार्षिक सदस्यता शुल्क - रु. २५/-

MAY - 2026

स्वानुभूतिप्रकाश

प्रकाशक :
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट
भावनगर - ३६४ ००१.

अशांतिसे छूटनेका रामबाण इलाज !

– पूज्य भाईश्री शशीभाई

देखिये! ऐसा है कि चाहे जैसे संयोगमें, चाहे जैसे अशांतिके संयोग हो आत्मा अपनी शांति प्रकट कर सकता है। प्रकट करना जीवका अधिकार है और बिलकुल प्रकट कर सकता है। वह तभी जब प्राप्त संयोगोंसे अपनी भिन्नता ज्ञानमें अच्छीतरह ग्रहण करे और अपने भिन्न स्वरूपके अवलंबनका पुरुषार्थ करे तो अच्छीतरह अपनी शांतिका अनुभव जीव कर सकता है। अशांति तो तब होती है जब जीव संयोगोंसे अभेदता कर लेता है।

अशांति होनेका कारण एकबार बिलकुल स्पष्टरूपसे विचार कर लेने जैसा है। अशांति तो हमें कईबार होती है न? कि, हे जीव! विभिन्न प्रसंगोंके वक्त तेरी अशांतिका कारण तू खोजेगा तो एक सामान्य कारण तुझे यह मालूम होगा कि, जिन–जिन प्रसंगोंके साथ तूने अभेदता कर रखी है, ममत्व किया है, मेरे और उसके बीच यह सम्बन्ध है, इतना मेरे साथ लगाव है–इस लगावके कारण अशांति है। वरना भिन्नतामें कभी अशांति नहीं होती। और भिन्नता है सो वस्तुका स्वरूप है।

अतः चाहे जैसे संयोगमें भी आत्मा संयोगसे भिन्न है और अपने शांत स्वरूपसे अभिन्न है। अपने अभिन्न स्वरूपका, शान्त स्वरूपका अवलम्बन लेनेपर अवश्य शांति प्रकट कर सकता है। हमें कोई बड़ा रोग हुआ हो तब आदमी कहे कि, लीजिये आपको एक दवाई देता हूँ, आप हमेशा अपने पास रखें और जब भी आपको बेचैनीसी बढ़ जाये, ऐसा कुछ महसूस होने लगे, कुछ sensation हो कि तुरंत यह गोली खा लेना तो इससे तुरंत आपके रोगका उपद्रव शांत हो जायेगा और आप तकलीफ़ नहीं पाओगे। – यहाँ ऐसी दवाई दी है कि चाहे जैसे संयोगमें भी आपको अपनी शांतिका अनुभव करनेका अधिकार है और आप अपनी शांतिका वेदन कर सकते हैं। उन संयोगोंसे अपनी भिन्नताको तुरंत ग्रहण करो कि इन संयोगोंके साथ मेरा कोई लेना–देना नहीं है। इससे भिन्नता की और फिर भी अशांति होवे ऐसा कभी नहीं बन सकता। challenge मारकर कहते हैं कि ऐसा बिलकुल सम्भव नहीं है।

मुमुक्षु :– कैन्सर हो तब?

पूज्य भाईश्री :– किसको लेकिन? भिन्न ऐसे शरीरको, आत्माको नहीं – ऐसा है।

मुमुक्षु :– निर्धन हो जाय, लुटा जाये...

पूज्य भाईश्री :– हाँ, परन्तु आत्मामेंसे कौन–सी लुट हुई? आत्माका धन लुट गया? गुण लुट गये? प्रदेश लुट गये? भाव लुट गये? क्या लुट गया? कुछ नहीं लुटा ! अपने अनन्त गुणोंकी लक्ष्मीसे भरपूर हैं। हमारे गुणोंका हरण कोई नहीं कर सकता। गुण तो सामान्य स्वरूप है परन्तु उसका उत्पाद–व्ययरूप जो

(अनुसंधान पृष्ठ संख्या १७ पर..)

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५५२, अंक-३४१, वर्ष-२८, मई-२०२६

कहानरत्न किरणें!!

– अध्यात्म युगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

('परमागमसार'में से साभार उद्धृत)

ज्ञानकी पर्यायमें वस्तु जैसी है वैसी, प्रथम ही, प्रत्यक्ष प्रतिभासमें आती है, पश्चात् आत्माको जैसा जाना वैसा 'मैं हूँ', इस प्रकार प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है, और बादमें उसमें अर्थात् अपनेमें स्थिरता होती है, तब साध्य आत्माकी सिद्धि होती है। ३५४

*

जैसे खीरके स्वादके आगे लाल ज्वारकी रोटी अच्छी नहीं लगती, वैसे ही जिन्होंने "प्रभु आनन्द स्वरूप है" – ऐसा स्वाद लिया है, उन्हें जगतकी किसी वस्तुमें रुचि नहीं होती, रस नहीं आता, एकाग्रता नहीं होती। निजस्वभावके सिवाय जितने विकल्प और बाह्य ज्ञेय हैं उन सभीका रस टूट जाता है। ध्यानमें बैठते हैं तब ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय एक होनेसे आनन्दका रस आता है – इतना अवकाश रखकर रागमें-बाहरमें आते हैं। ३५५

*

जब यह आत्मा स्वयं रागसे भिन्न होकर अपनेमें एकाग्र होता है, तब केवलज्ञानको उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान-ज्योति उदित होती है। और दर्शन-ज्ञानमय स्वभावमें अस्तित्वरूप जो

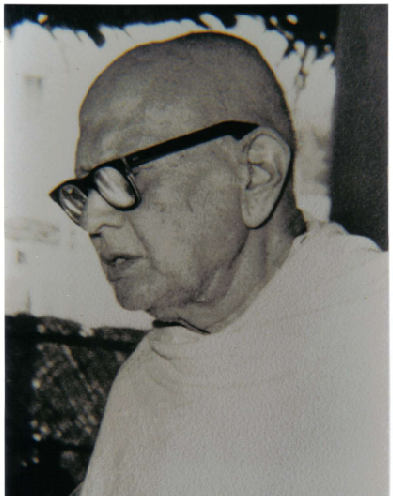

आत्मतत्त्व है, उसमें एकत्वगत रूपसे बर्तित हो, तभी वह आत्मा स्व-समयमें प्रतिष्ठित हुआ – अतः उसे आत्मा कहा। ३५६

*

प्रभुको रागसे सम्बन्धवाला कहना – वह दुःखरूप है। रागसे एकता तोड़कर रागको जीतकर स्वभावसे एकता करे तो सच्चा "जैन" कहलाए। शाश्वत लक्षण युक्त स्वभावके साथ कृत्रिम भावको जोड़ना – वह तो दुःखरूप है – खेद है। प्रभु 'जिन' स्वरूपी आत्माको रागके छोटेसे छोटे रजकणके साथ सम्बन्धित बतलाना तो विसंवाद

है, दुःखरूप है। ३५७

*

पवित्र-वस्तु अपवित्र रूपसे परिणमित हो तो वह उसकी शोभा नहीं। वस्तु अकषाय स्वरूप है, उसका अकषाय-भावरूप परिणमित होना वही उसकी शोभा है। एकरूपता जिसमें है – ऐसी वस्तु रागादि रूप परिणमित हो तो वह विविध रूपता है, जिससे वह अशोभनीय है। चैतन्यका जो त्रिकाली स्वरूप है उसका विचार करें तो एकरूपता ही शोभनीय है। सुन्दर वस्तु है, सो सुन्दर रूपसे परिणमित हो तो ही शोभा है। सत्शाश्वत-ज्ञान और आनन्द-स्वरूप भगवान एकरूपकतामें रहे – वही उसकी शोभा है । (वस्तु) राग रहित निर्विकल्प स्वरूप है, अतः निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रमय एकरूपता ही उसकी शोभा है। ३५८

*

"मैं पूर्णानन्दका नाथ ज्ञायक प्रभु हूँ," ऐसे ज्ञायकके लक्ष्यसे जीव सुनता है; उसे सुनते हुए भी ज्ञायकका ही लक्ष्य रहता है । उसे चिन्तवनमें भी ऐसा ज़ोर रहता है कि "मैं परिपूर्ण ज्ञायक वस्तु हूँ" – उस जीवको सम्यक्-सन्मुखता रहती है। मन्थनमें भी ज्ञायक ही का लक्ष्य रहता है। यह चैतन्य-भाव परिपूर्ण वस्तु है , उसे ऐसा ज़ोर रहा करता है; भले ही उसे अभी सम्यक्दर्शन न हुआ हो। जितना कारणरूप पुरुषार्थ करना चाहिए उतना पुरुषार्थ न कर सके, तो भी उस जीवको सम्यक्-सन्मुखता होती है। ऐसे जिवको अन्तरमें ऐसी लगन लगती है कि "मैं जगतका साक्षी हूँ, ज्ञायक हूँ"। अन्तरमें ऐसे दृढ़ संस्कार ड़ाले कि जो फिर न बदले। जैसे सम्यक्दर्शन होने पर अप्रतिहत भाव बतलाया है, वैसे ही सम्यग्-सन्मुखतामें ऐसे दृढ़ संस्कार पड़ते हैं कि उस जीवको सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति निश्चित है। ३५९

*

प्रश्न :- सम्यक्दृष्टिके उपयोगमें शुद्ध आत्माका विचार चलता है, वही शुद्ध उपयोग है न?

उत्तर :- नहीं। शुद्ध आत्माका विचार चले वह शुद्ध उपयोग नहीं है; यह तो राग मिश्रित विचार है। शुद्ध आत्मामे एकाग्र होकर निर्विकल्प उपयोगरूप परिणाम हो – वह शुद्ध उपयोग है। जिसमें ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाताका भेद छूटकर केवल अभेदरूप 'चैतन्यगोला' अनुभवमें आता है – वह शुद्ध उपयोग है। ३६०

*

क्रिया-काण्डकी दृष्टिवालोंको ऐसा लगता है कि समयसार सुनते हैं, पर कोई आगे नहीं बढ़ता। उनहें तो बाह्य त्याग-तप-व्रत आदि क्रिया करे तो ही आगे बढ़ते दिखते हैं। पर भाई! समयसारको सुनकर परद्रव्यसे भिन्नता, परद्रव्यका अकर्तापन, रागादिभावोंमें हेयबुद्धि और अन्तरमें रही हुई परमात्मशक्तिकी उपादेयता – ऐसे जीवोंके श्रद्धा-ज्ञानमें निरन्तर घुटती रहती है। ऐसे इनके श्रद्धा-ज्ञानमें सुधार होता है; वे क्या आगे नहीं बढ़े? जिनके अन्तर श्रद्धा-ज्ञानमें सत्यके संस्कार पड़ते हैं, वे आगे बढ़ते हैं। जो श्रद्धा-ज्ञानको यथार्थ किए बिना, त्याग-तप-व्रत आदि करते हैं, उन्हें आत्मानुशासनकार तो कहते हैं कि आत्मभान बिना जो बाह्य त्याग आदि हैं- वह

अज्ञानीकी अंतर दाह है। अन्तरंग मिथ्यात्वके त्यागबिना, बाह्य त्यागको सच्चा त्याग नहीं कहते हैं। अन्तरमें श्रद्धा-ज्ञान-स्वरूपाचरणचारित्रमें जो सुधार होता है, वही सच्चा सुधार है; बाह्य दृष्टिके आग्रहवालोंको वे नहीं दिखते। ३६१

*

प्रश्न :- जब (ध्रुव) द्रव्यमें पर्याय नहीं है तो फिर पर्यायको गौण कैसे करनेमें आता है?

उत्तर :- (ध्रुव) द्रव्यमें पर्याय नहीं है, पर जो वर्तमान प्रकट पर्याय है, वह पर्याय पर्यायमें है। पर्याय सर्वथा है ही नहीं - ऐसा नहीं है। पर्याय है - उसकी उपेक्षा करके, गौण करके, नहीं है- ऐसा कहकर पर्यायका लक्ष्य छुड़ाकर, द्रव्यका लक्ष्य और दृष्टि करवानेका ही प्रयोजन है। इसीलिए द्रव्यको मुख्य कर भूतार्थ कह कर, उसकी दृष्टि करवानी है ; और पर्यायकी उपेक्षा कर, गौण कर, पर्याय नहीं है, पर्याय-असत्यार्थ है - ऐसा कहकर उसका लक्ष्य छुड़वाना है। परन्तु पर्याय यदि सर्वथा ही न हो तो उसे गौण करनेका प्रश्न ही कहाँ रहा? द्रव्य और पर्याय दो मिलकर जो पूर्ण द्रव्य है वह प्रमाणज्ञानका विषय है। ३६२

*

स्वरूपकी लीला जात्यान्तर है । मुनिकी दशा अलौकिक जात्यान्तर है। मुनिराज स्वरूप-उपवनमें लीला करते-करते, यानी कि स्वरूप-उपवनमें रमते-रमते कर्मोंका नाश करते हैं। दुःखी होते-होते नहीं, पर 'स्वरूपमें रमते-रमते कर्मोंका नाश करते हैं, - ऐसी उनकी जात्यान्तर दशा है -लीला है। स्वरूप ही उनका आसन है, स्वरूप ही उनकी बैठक है, स्वरूप ही उनका आहार है , स्वरूपमें ही उनका विचरण है, स्वरूप ही उनकी लीला है। जो अन्तरकी आनन्द-क्रिड़ामें रमने लगे - उनकी लीला जात्यान्तर है।

अरे! सम्यक्-दृष्टिकी लीला भी जात्यान्तर है। कोई सम्यक्-दृष्टि युद्धमें हो, वे वहाँसे घर लौटकर ध्यानमें बैठते ही निर्विकल्प आनन्दका अनुभव करते हैं। अरे! कभी तो लड़ाईके प्रसंगमें हो तो भी समय मिलते ही ध्यानस्थ हो जाते हैं। अरे! संसारके अशुभ-भावोंमें पड़े हों तो वहाँसे भी खिसक कर दूसरे क्षण ही ध्यानमें बैठते ही निर्विकल्पता हो जाती है। वह वस्तु अन्तरमें मौजूद है। उसके माहात्म्यके ज़ोरसे निर्विकल्पता हो जाती है। आहा हा! जिसे रागसे भिन्नता हुयी, स्वरूपसे एकता हुयी, आनन्दके खजानेके ताले खुल गए हैं, वह अशुभ-भावके प्रसंगमेंसे खिसककर ध्यानमें निर्विकल्प आनन्दमें मग्न हो जाता है। यह सब चमत्कार पूर्णानन्दके नाथको जाननेका है, सम्यक्-दर्शनमें पूर्णानंदके नाथके प्रकट होनेका है। सम्यक्दर्शनमें पूर्णानन्दका संपूर्णतः कब्जा हो जाता है, यह उसकी जात्यान्तर लीला है।

अरे! कोई जीव तो निगोदमेंसे निकलकर आठ वर्षकी आयुमें सम्यक्दर्शन पा, तुरन्त मुनि हो, स्वरूपमें एकाग्र होते ही अन्तर-मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और अन्तर-मुहूर्तमें देह छूटते ही सिद्ध हो जाते हैं। अहाहा! स्वरूपकी जात्यान्तर लीला तो कोई अद्भुत है। पर सम्यक्-दर्शन बिना व्रत करे, तप करे, घर-बार छोड़कर मुनि हो जाए, तो भी इसकी लीला जात्यान्तर नहीं होती, संसारकी लीला थी और वही की वही रहती है। ३६३

*

आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवाला है। उसमें अनन्त गुण स्वभाव है, उसकी रुचि हुए बिना, उपयोग परमेंमे पलटकर स्वमें नहीं आ सकता। जो पाप भावोंकी रुचिमें पड़े हैं – उनकी तो बात ही क्या! पर पुण्यकी रुचि वाले बाह्य त्याग करें – तप करें – द्रव्यलिंग धारण करें तो भी जब तक शुभकी रुचि है, तब-तक उपयोग पर-ओरसे पलटकर स्वमें नहीं आ सकता। अतः प्रथम परकी रुचि पलटानेसे ही उपयोग पर-ओरसे पलटकर स्वमें आ सकता है। मार्गकी यथार्थ विधिका यही क्रम है। ३६४

*

जिज्ञासु जीवको भूमिका अनुसार शुभाशुभ-परिणाम तो आयेंगे ही। रागको छोडूँ...छोडूँ- ऐसे राग पर दृष्टि रखनेसे राग नहीं छूटेगा। अतः एकदम (व्यर्थकी) उतावली नहीं करना। उतावली करनेसे राग नहीं छूटेगा बल्कि उलझन बढ़ जाएगी। राग छोडूँ-छोडूँ ऐसे नास्ति पक्षमें खड़े रहनेसे राग नहीं छूटेगा और उलझन होगी। स्वभावके अस्तिपक्षका यथार्थ पुरुषार्थ होने पर राग सहज ही छूट जायेगा। ३६५

*

यह करुँ...वह करुँ...यह करुँ, पंडिताई करुँ, जगतको बहुत-बहुत समझाऊं, दुनियाको लाभ हो तो मुझे भी कुछ लाभ हो न? – ऐसी तृष्णारूप दाहने इसे लपेट लिया है। भाई! अन्तरमें जाना हो तो बाह्यकी रुचि छोड़ दे। अन्यको उपदेश दूँ व उससे मुझे लाभ हो-यह तृष्णारूपी दाह है, इस दाहसे तुझे अन्तरंगमें पीड़ा प्रकट हुयी है। ३६६

*

अतीन्द्रिय आनन्दके वेदनमें आनन्दस्वरूप प्रभुको परसे भिन्न, दयादान आदिके भावसे स्पष्ट भिन्न देखनेमें आता है। शास्त्र सुनकर अथवा धारणासे उसे भिन्न जाना है – ऐसा नहीं, क्योंकि यह तो राग मिश्रित जानना है। परन्तु रागसे भिन्न निर्मल भेद-ज्ञानके प्रकाश द्वारा आत्माको भिन्न देखना – वही भिन्न जानना कहलाता है। ३६७

*

आहा हा! वीतरागी सन्त वीतराग-भाव प्रकट करनेकी बात करते हैं। सन्त जो बात कहते हैं – वह वीतराग-स्वरूपकी दृष्टि करानेकी ही बात है, क्योंकि वीतराग-स्वरूपकी दृष्टि करे, तब ही वीतरागता प्रकट होती है। इसलिए कहते हैं कि मैं जो कहता हूँ उसकी ''हाँ'' करना। ऐसे ही ऐसे खड़े न रहना, बल्कि पुरुषार्थ करना। ३६८

*

प्रश्न :- जिसके प्रतापसे जन्म-मरण टले और मुक्ति मिले, ऐसा अपूर्व सम्यक्दर्शन क्या पंचम कालमें जल्दी हो जाता है?

उत्तर :- हाँ! पंचम कालमें भी सम्यक्दर्शन क्षण भरमें होता है। पंचम काल आत्माको स्पर्श नहीं करता, आत्मा तो पंचम कालसे पार है। सम्यक्दर्शन प्रकट करना तो वीरोंका काम है, कायरका काम नहीं। पंचम कालमें न हो सके, अभी न हो सके – ऐसा माननेवाले कायरोंका यह काम नहीं। बादमें करेंगे ...कल करेंगे – ऐसे वायदे करने वालोंका यह काम नहीं। 'अभी करेंगे, आज ही करेंगे'– ऐसे वीरोंका यह काम है। आत्मा आनन्द स्वरूप है, उसकी ओर दृष्टि देनेवालोंको समय-काल क्या बाधा करेंगें? ३६९

*

प्रश्न :- जब आत्मा-वस्तु अव्यक्त है तब वह कैसे जाननेमें आए?

उत्तर :- वर्तमान वर्तती पर्याय व्यक्त है, प्रकट है - वह पर्याय कहाँसे आती है? कोई वस्तु है जिसमेंसे आती है या शून्यमेंसे आती है? जो तरंग है वह जलमेंसे आती है या शून्यमेंसे आती है? वेसै ही पर्याय है वह शून्यमेंसे नहीं आती; परन्तु अन्तर वस्तु जो अव्यक्त-शक्तिरूप है, उसमेंसे आती है। व्यक्त पर्याय अव्यक्त आत्मशक्तिको प्रसिद्ध करती है - बतलाती है। ३७०

*

प्रश्न :- वर्तमानमें कर्म बन्धन है, हीन दशा है, रागादि भाव वर्तते हैं, तो शुद्ध आत्माकी अनुभूति कैसे हो सकती है?

उत्तर :- रागादि-भाव वर्तमानमें वर्तते होने पर भी वे समस्त भाव क्षणिक हैं, नश्वर हैं, अभूतार्थ हैं, झूठे हैं - अतः उनका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्माका लक्ष्य करनेसे आत्मानुभूती हो सकती है। रागादि-भाव एक समयकी स्थितिवाले हैं और भगवान आत्मा नित्य स्थित रहनेवाला अबद्धस्पृष्ट है । इसीलिए एक समयकी क्षणिक पर्यायका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली शुद्धात्माका लक्ष्य करनेसे - दृष्टि करनेसे आत्मानुभूति हो सकती है। ३७१

*

प्रश्न :- हम गुरुवाणीसे आत्मवस्तुका स्वीकार करते हैं, फिर भी अनुभव होनेमें क्या कमी रह जाती है?

उत्तर :- गुरुवाणी द्वारा स्वीकार करना अथवा विकल्पसे स्वीकार करना - वह वास्तविक स्वीकृति नहीं है। स्वयंके भावसे-निज आत्मासे स्वीकार होना चाहिए।

कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है कि 'हम जो कहते हैं वह तूँ तेरे स्वानुभवसे प्रमाण करना'। स्वयंके अन्तरसे यथार्थ निर्णय करे - उसे ही अनुभव होता है। ३७२

*

प्रश्न :- आत्माकी कैसी लगनी लगे तो छः मासमें सम्यक्दर्शन हो?

उत्तर :- ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायककी लगनी लगनी चाहिए। ज्ञायककी धुन लगे तो छः मासमें कार्य हो जाए और उत्कृष्ट लगनी लगे तो अन्तर्मुहूर्तमें हो जाए। ३७३

*

अरे भाई! तूँ रागादिसे निर्लेप स्वरूप प्रभु है। कषाय आती है, उसे जानना वही तेरी प्रभुता है। कषायको अपना मानना - यह तेरी प्रभुता नहीं। तूँ तो निर्लेप वस्तु है, तुझे कषायका लेप लगा ही नहीं। आत्मा तो सदा ही कषायोंसे निर्लेप तैरता हुआ है। जैसे स्फटिकमणिमें परका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही कषायभाव-विभाव, ज्ञानमें ज्ञात होते हैं; पर उनका तुझमें प्रवेश ही नहीं हुआ। तूँ तो निर्लेप है। व्रतादिके विकल्प आते हैं, वे संयोगी-भाव ज्ञायकसे भिन्न हैं, ज्ञायककी जातिके नहीं है। अतः कुजात हैं, परजात हैं, परज्ञेय हैं; स्वजात - स्वज्ञेय नहीं है। तूँ ज्ञायक स्वरुप निर्लेप प्रभु है - इस प्रभुताका अन्तरमें विश्वास होने पर, पर्यायमें प्रभुता प्रकट होती है । ३७४

*

संगका विवेक

बहिनश्रीके वचनामृत, बोल-२२९ पर प्रवचन

- सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्री शशीभाई

मुनिको संयम, नियम और तप-सबमें आत्मा समीप होता है। अहा! तू तो आत्माकी साधना करने निकला है...वहाँ यह लौकिक जनोंके परिचयका रस क्यों?

तुझे शुद्धि बढ़ाना हो, दुःखसे छूटनेकी भावना हो, तो अधिक गुणवाले या समान गुणवाले आत्माके संगमें रहना।

लौकिक संग तेरा पुरुषार्थ मंद होनेका कारण होगा। विशेष गुणीका संग तेरे चैतन्यतत्त्वको निहारनेकी परिणतिमें विशेष वृद्धिका कारण होगा।

अचानक आ पड़े असत्संगमें तो स्वयं पुरुषार्थ रखकर अलग रहे, परन्तु स्वयं रसपूर्वक यदि असत्संग करेगा तो अपनी परिणति मन्द पड़ जायगी।

-यह तो स्वरूपमें झूलते हुए मुनियोंको (आचार्यदेवकी) सीख है। निश्चय-व्यवहारकी संधि ही ऐसी है। इस प्रकार अपनी भूमिकानुसार सबको समझ लेना है। २२९

(दि. २४-११-१९८७, प्रवचन क्र.-१८३)

२२९। मुनिराजका दृष्टांत लेकर सिद्धांत समझाना है। यहाँ विषय ऐसा लिया है कि बाहरमें संग किसका करना? इस विषयमें मार्गदर्शन है। मुनिराजका दृष्टांत लिया है। सिद्धांत यों समझाते हैं कि, हरएक जीवको, मुमुक्षुको भी अपनी भूमिकानुसार समझ लेना है। आखरी पंक्तिमें लिखा है कि भूमिकानुसार अर्थात् मुमुक्षुजीवको भी अपनी भूमिका अनुसार समझ लेना।

'मुनिको संयम, नियम और तप-सबमें आत्मा समीप होता है।' यहाँ प्रथम निश्चय संगकी बात ली है। मुनिराज परसंग करना तो बिलकुल नहीं चाहते। मुनिको संयम, नियम और तप - सबमें आत्मा (समीप होता है।) बाहरमें संयमका पालन, नियमका पालन भले ही व्यवहार रत्नत्रयके परिणाम हैं - संयम, नियम और तप। नियम कहो, व्रत कहो एकार्थ है। उन सबमें देहकी क्रिया समीप है ऐसा नहीं कहा परन्तु उन सबमें आत्मा समीप है। 'स्वरूप लक्षे जिन आज्ञा आधीन जो' 'श्रीमद्जी'ने गाया कि नहीं? बाहरमें

जो व्यवहार रत्नत्रयकी प्रवृत्ति है, पंचमहाव्रत संयम आदिकी वह स्वरूप लक्ष्यपूर्वक है। स्वरूपलक्ष्य या स्वभावलक्ष्य छोड़कर कोई बात नहीं है। और वैसे जिन भगवानने, जिनेन्द्रने कही हुई मर्यादामें है। आज्ञाका अर्थ मर्यादामें है। मर्यादा बाहर बेलगाम प्रवृत्ति नहीं होती। और वह भी स्वरूपलक्ष्यपूर्वक प्रतिक्षण क्षीण होती जाये ऐसी स्थितिमें है। बढ़ती जाये सो बात नहीं है। क्योंकि रागांशमें से उत्पन्न हुई, रागांशके निमित्तसे हुई प्रवृत्ति है इसलिये वह क्षीण होती जाती है। और आत्मा समीप है – स्वभाव समीप है। स्वरूपसे अधिकसे अधिकतर समीप या स्वरूपमें विशेषरूपसे गहराईमें परिणामसे–भावसे मुनिराज जाते रहते हैं। ऐसी मुनिकी दशा होती है। मुनि कैसे होते हैं यह बात की।

'मुनिको संयम, नियम और तप–सबमें आत्मा समीप होता है।' अब यहाँ मुनिराजकी बात आयी तो ऐसे हलकेसे नहीं लेनी है कि, यह बात तो मुनिकी है न! मैं कहाँ अभी मुनि हुआ हूँ, अभी मैंने कहाँ मुनिपना लिया है या मुझे मुनिपना आया है – ऐसी बात नहीं है। यदि उन्हें ऐसा होता है तो उनका अनुकरण करनेवालेका भी ऐसा ही होवे, ऐसा लेना है। उनका अनुकरण करना चाहिये इनसे विपरीत चलना नहीं चाहिये–ऐसा कहते हैं।

अब कहते हैं कि, *'अहा! तू तो आत्माकी साधना करने निकला है... वहाँ यह लौकिक जनोंके परिचयका रस क्यों?'* ऐसा कहते हैं। लौकिक जन जो कि रंग रागमें लिप्त हैं, जिन्हें जगतके विषयका और पदार्थका रस है, जगतके कार्योंका रस है, व्यापार–धंधा आदिका रस है उसका संग व परिचय तुम क्यों करते हो? क्यों करते हो? – ऐसा प्रश्न पूछा है। होना ही नहीं चाहिये। क्यों? करके पूछते हैं अर्थात् होना ही नहीं चाहिये ऐसा कहते हैं। और अगर है तो क्यों है? इसकी जाँच कर! क्या वज़ह है इसके पीछे? क्यों तुझे सुहाता है? ये लौकिकजनका परिचय और संग तुझे क्यों रुचिकर लगता है और सुहाता है?– यह भी एक प्रश्न है। अगर तू आत्माकी साधना करने निकला हो तो, लेकिन यदि आत्माकी साधना नहीं करनी हो तब तो तुझे कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

यह विषय महत्वपूर्ण इसलिये है क्योंकि कुसंग जितना अहितका निमित्त होता है उतना इस जगतमें आत्माको नुकसान करनेवाला और कोई निमित्त है ही नहीं। इसलिये ज्ञानियोंने उसपर बहुत ज़ोर दिया है। ज्ञानियोंका, आचार्योंका इस विषय पर बहुत ज़ोर है। दूसरी बात, जो जीव जिसका भी संग करता है चाहे गुणी या अवगुणी वैसे गुण और अवगुणकी खुदको भी रुचि होती है यह बात इसमें से स्वतः फलित होती है। बिना बोले ही!

रुचिकी पहचान करनेके अनेक तरीकोंमें से यह एक तरीका है। जो जीव जैसे जीवोंका संग करने जाता है, फिर चाहे वो गुणी हो चाहे अवगुणी हो, वैसी खुदकी रुचि साबित होती है। यदि गुणीका संग करने जाता है तो ज़रूर उसको गुणकी रुचि है। अगर अवगुणीके संगमें जायेगा तो ज़रूर उसे अवगुणकी रुचि है। – वह अवगुणको ग्रहण करेगा, जिसमें से सब अवगुण पनपने लगेंगे। दूसरी तरफ जानेपर गुणका विकास होगा। दो ही रास्ते हैं, जगतमें तीसरा कोई रास्ता नहीं है। कोई यदि कहे

कि, हमें तो गुण भी नहीं अवगुण भी नहीं चाहिये तो जगतमें कोई तीसरा रास्ता है नहीं। अब तू ही जाँच कर ले कि तुझे किसकी रुचि है? गुणकी या अवगुणकी? यह तुझे विचार करना है।

प्रश्न :- गुणी या अवगुणीकी पहचान कैसे करें?

समाधान :- ज्ञानियोंका संग करना वह तो गुणवानका संग करनेकी स्पष्ट बात है। अतः इसमें तो पहले पहचानकी बात नहीं लागू होती! हालाँकि पहचानके लिये खुदको भी इतनी तैयारी तो करनी पड़ेगी। पहचानके लिये तैयारी तो करनी ही पड़ेगी। और तो कोई उपाय नहीं है। चलो प्रश्न किया ही है तो थोड़ी चर्चा कर लेते हैं।

जिसके भी संगमें रहना होता हो, जैसे ये कुटुम्ब-परिवारके सदस्योंके संग रहना होता है तो क्या हमें इनकी पहचान नहीं हो जाती है? कभी किसीने ऐसा कहा कि, मेरे घरवालोंको मैं नहीं पहचानता? हमारे घरवालोंको हम तो नहीं जानते, ऐसा कभी कोई कहेगा? उलटा ऐसा कहेगा कि भाई! मैं उसे अच्छी तरह पहचानता हूँ क्योंकि मेरे घरका सदस्य है, क्या कहेगा? संग करें और पहचान न हो ऐसा कैसे बने? यदि संग करें, सहवासमें रहें, संगतिमें रहें फिर भी पहचान न हो यह कैसे सम्भव है? फिर तो उसने संगति की नहीं, सच बात तो यह है।

हाँ कभी ऐसा बनता है कोई ज्ञानी किसी अज्ञानीके अवगुणोंको न पहचान पाये। - ऐसा बनता है। अज्ञानी उनके संगमें आता है, ज्ञानीका संग करने कई अज्ञानी आ जाते हैं-तब सम्भव है कि ज्ञानी अवगुणीको पहचान न पाये। क्यों? कि वास्तवमें ज्ञानी उनका संग नहीं करते। उस जीवमें कैसे, कितने प्रकारके दुर्गुण हैं इसकी माथापच्चीमें, गहराईसे झाँकनेका ज्ञानीका प्रयोजन नहीं होता। वे तो अपने प्रयोजनकी सिद्धिमें व्यस्त हैं। अपने स्वकार्यके पीछे लगे हैं - तो ऐसा सम्भव है। परन्तु अज्ञानी ज्ञानीका संग करने जाये और उन्हें पहचान न सके तो वास्तवमें उसने संग ही क्या किया?

हमारे गुजरातीमें तो कहावत है कि 'सोनु जुओ कसी अने माणस जुओ वसी।' 'वसी' मतलब सहवासमें रहना। सोनेकी कसौटी पर कसनेसे पता चलता है कि सोना है या पीतल। अवश्य पता चल जाता है। वैसे किसी व्यक्तिके संगमें रहें और वह व्यक्ति कैसा है यह अगर पता न चले तो वास्तवमें वह सहवासमें नहीं रहा-यह सीधी वात है। यानी कि संग करें परन्तु पहचान न हो तो वास्तवमें उसने संग नहीं किया।-सच बात तो ऐसी है। क्योंकि हमारे घरमें तो यह बनता ही है कि जिसकी संगति और सहवासमें रहते हैं उसकी अच्छीतरह पहचान हो जाती है।

प्रश्न :- यदि हमें बाहरमें गुणवानका संग करना है और अवगुणीका नहीं करना है तो किस कसौटी पर चढ़ाना? हमारे भावोंको कैसे (देखना)?

समाधान :- पहचानका विषय तो ऐसा है कि परीक्षा करनी पड़ती है। जब परीक्षा करनी हो तो एकदम बारीकीसे अवलोकन करके अगलेके अभिप्रायकी या उसके हृदयकी जाँच करनेकी क़ाबिलीयत होनी चाहिये। अगर ऐसी क़ाबिलीयत नहीं होगी तो जीवने उसमें अनन्तबार धोखा खाया है और अज्ञानीको ज्ञानी मानकर संग किया है। हालाँकि इसके लिये काफ़ी मार्गदर्शन उपलब्ध है जैसे कि

क्षयोपशम ज्ञान है सो ज्ञान नहीं, कवित्व है सो ज्ञान नहीं, फिर कोई लेखनशक्ति या वक़्तृत्वकला है सो ज्ञान नहीं, कोई बाह्यत्याग भी वास्तवमें ज्ञान नहीं है या ज्ञानीपना नहीं है। इसप्रकार जहाँ-जहाँ, जो-जो बाह्य लक्षणमें जीव धोखा खा जाता है वहाँ धोखा न खाये इसके लिये काफ़ी बातें आती हैं। उसकी अंतरंग परिणति कैसी है? उसका श्रद्धान कहाँ काम करता है? इनके सारे परिणामोंका झुकाव अनन्त गुणके पिण्ड पर यानी ज्ञानसे, आचरणसे, श्रद्धासे उसका वजन, उसका ज़ोर, उसका लक्ष्य, उसका रस वहाँ जाता है कि नहीं? अगर इस चीज़की परीक्षा करने जाये तो गुप्त न रह सके ऐसा यह काम है। परन्तु जाँच करनेकी दरकार खुदको होनी चाहिये, वह ज़िम्मेदारी खुदकी है। और जहाँ खुदके लाभ-नुकसानका विषय है वहाँ पर तो जीवकी दरकार होनी ही चाहिये, इसका कोई अन्य विकल्प नहीं है। क्या करें? हमारी तो कोई पात्रता नहीं है तो हमें क्या करना? यदि पात्रता नहीं है तो पात्रतामें आना पड़े इसमें दूसरा कोई उपाय नहीं है।

हीरे खरीदने हैं लेकिन हीरेकी पहचान नहीं तो किसी जौहरीको साथ ले जाओ। हमारे रिश्तेदारोंमें, पहचानवालोंमें, हमारे मित्रवर्गमें कोई जौहरी है? सिर्फ जौहरी है इतना ही नहीं परन्तु विश्वसनीय जौहरी कौन है? क्योंकि यदि विश्वासपात्र न हो तो भी मुश्किल खड़ी कर दे। धोखा हो जाये। अब वहाँ पर तो सब विचार-विवेक करके खुदकी पूँजी या पैसे ग़लत तरीके से नष्ट न हो जाये इसके लिये यथोचित उपाय करना जीवको आता है कि नहीं?

यहाँ पर इससे थोड़ी और अधिक दरकार अपेक्षित है क्योंकि सबसे अधिक मूल्यवान चीज़ जो है! अतः ज्यादा दरकार करनी है। हमलोगोंको तो वर्तमानमें बहुत सुविधा है। वैसे ज्ञानीको पहचानना कठिन है परन्तु 'गुरुदेवश्री'ने तो एक अधिक उपकार ऐसा किया कि, आत्मा तो समझाया परन्तु साथ-साथ (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन)की ओर अंगुली निर्देश करते गये कि ये ज्ञानी हैं। दो-double उपकार है गुरुदेवश्रीका। किसी इमानदार जौहरीने बता दिया कि यह सच्चा हीरा है। तो कमसेकम एक ग़लती होनेसे तो बचा लिया, इसके बावजूद भी पहचान करनेकी ज़िम्मेदारी तो है ही इसमें से नहीं बच (छिटक) सकते। वह जिम्मेदारी तो है ही और तभी ही लाभ होगा, तब ही लाभ होगा और इसके बिना लाभ नहीं होगा। यह बात तो पहलेसे समझ लेनी है। हाँ, लेकिन शक्ति कहीं और खर्च हो जाये, समयका व्यय हो जाये इसमें से बच जाना यह भी कोई छोटा-मोटा उपकार नहीं है। क्योंकि कइयोंकी ज़िंदगी ऐसे चली जाती है! ऐसे ग़लत जगह समर्पित रहकर कइयोंकी ज़िंदगी बीत जाती है। कभी ये ज्ञानी हैं, फिर ये ज्ञानी हैं, फिर कोई दूसरेके लिये ये ज्ञानी हैं ऐसे कर-करके पूरा जीवन इसके पीछे चला जाता है और कुसंग जितना तो दूसरा कोई नुकसान नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि ऐसा काल न भी हो तो भी तैयारी हो सकती है। इसके आगे अभी तो बहु-सहूलियतवाला काल है। वरना थोड़ी कठिन बात है। कठिनका मतलब अशक्य नहीं है। – ऐसे विचार करना। स्वयं अच्छी तरह परीक्षा करके पहचानके योग्य स्थितिमें आना ही चाहिये। इसका कोई दूसरा विकल्प या दूसरा उपाय नहीं है।

मुमुक्षु :– इसमें तो खुदकी तैयारी चाहिये।

पूज्य भाईश्री :– खुदकी ही तैयारी चाहिये और कोई उपाय नहीं।

मुमुक्षु :– खुदकी तैयारी, ज्ञानीको खोजनेकी ज़रूरत कहाँ लगी है?

पूज्य भाईश्री :– ज़रूरत नहीं, पहचाननेकी योग्यता और तैयारीकी बात है।

मुमुक्षु :– जिसके साथ भी जुड़े तो वहाँ समझ तो सकता है कि यह ठीक है या नहीं?

पूज्य भाईश्री :– अच्छे–बूरेकी पहचान होनेके बावजूद भी परिणाम जब तक अंतरमें स्थिर नहीं हो जाते हैं तब तक गुणवानके संगका विकल्प आता है। मुनि हों, तो मुनिको भी विशेष गुणवानके संगका विकल्प आता है। गृहस्थको तो आता ही है, इसमें कोई (सवाल ही नहीं उठता)। मुमुक्षुको आये इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो असंग स्वभावमें असंगरूपसे रह सके वैसे मुनि तो धन्यदशावान हैं ही परन्तु ऐसी जिनकी दशा नहीं होती वैसे मुनि भी गुणवान मुनियोंका संग करते हैं। वे कोई मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनियोंका संग नहीं करते। मुनियोंके समूहमें भी वे द्रव्यलिंगीका संग नहीं करते। भावलिंगी हों, विशिष्ट गुणवान हों, विशेष वैरागी हों, विशेष अंतरमें लीन रहते हों उनके संगमें रहते हुए खुदको तथारूप भावका आविर्भाव होता है – जो उन्हें लाभका कारण होता है।

'श्रीमद्जी'ने एक बात की है, 'दीपचंदजी'ने भी बात की है कि ज्ञानी या गुरु भले ही उपदेश न देते हों तो भी उनकी मुद्रा उपदेश देती है। उनकी मुद्रा स्वयं उपदेश देती है। अब उनकी मुद्रा कब उपदेश देती है? – यह एक विचारणीय विषय है, कि जब उनकी पहचान होगी तो। वरना वैसे तो उनकी मुद्रा पूरा गाँव देखता है। सबको इसमें से बोध नहीं मिलता। परन्तु जिनको अंतरंगकी पहचान हो उसे तो वे नहीं भी बोल रहे हों कभी तो भी उनकी मुद्रा परसे उपदेश मिलता है। उनके दर्शनमात्रसे खुदके भाव आविर्भूत होने लगते हैं। ऐसे संगका विकल्प मौजूद हो तो वैसा प्रभाव देखा जाता है। – यह प्रत्यक्षताका विषय है। व्यवहार प्रत्यक्ष है कि नहीं? परोक्ष और प्रत्यक्षमें काफ़ी अंतर है यह बात बहुत मंथन करके, विचार करके समझपूर्वक प्रतीत करने जैसी है। समय हुआ है। विशेष कल लेंगे।

(दि. २५–११–१९८७, प्रवचन क्र.–१८४)

बहिनश्रीके वचनामृत २२९ दूसरी पंक्ति चल रही है। *'अहा! तू तो आत्माकी साधना करने निकला है...वहाँ यह लौकिक जनोंके परिचयका रस क्यों?'* जो जीव आत्माकी साधना करने निकला हो, जिसका जगतसे विमुख होकर, संपूर्ण द्रव्यभावसे व्यावृत होकर सिद्धालयमें जानेका ध्येय है, उसे यदि जगतके लौकिकजनोंका–रंगरागमें लिप्त जीवोंका परिचय करनेका रस आने लगे तो अवश्य उसकी जगतके प्रति रुचि है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

रसकी पर्यायका दर्शनमोहके साथ या रुचिके साथ अविनाभावी संबंध है। अतः जिनको

लौकिकजनोंके परिचयका रस है, (हालाँकि) परिचय हो जाना एक बात है, सामनेसे परिचय होना एक बात है और इसमें खुदको रससे उलझना दूसरी बात है। दोनों अलग-अलग बात है। जिसे स्वयं जगतके लोगोंके साथ सम्बन्ध बढ़ाना है, परिचय बढ़ाना है और ऐसे परिचयके फलमें कोई भी कार्यको सम्पन्न कर लेनेका अंतरंगमें जिसका अभिप्राय है वह जीव आत्माकी साधना करने नहीं निकला है परन्तु संसारकी वृद्धि करने निकला है। - ऐसा दूसरा पहलू इससे स्पष्ट होता है।

यहाँ ज़रा ज़ोरसे प्रश्न किया है कि, यदि तुझे अपने स्वरूपकी साधना करनी है तो अन्य जीवोंके परिचयकी वृद्धि न हो जाये इस अभिप्राय सहित तुम्हारी प्रवृत्ति होनी चाहिये। अन्य-अन्य जीवोंका परिचय बढ़ानेका दृष्टिकोण या इसका रस या अभिप्राय होना - यह तो नियमसे परिणाममें गिरावटका ही कारण है। इसमें तो कोई परिणाम सुधरेंगे या शुद्धिकी ओर जायेंगे ऐसा नहीं बननेवाला है। असंग तत्त्वका आश्रय करने हेतु संगका त्याग करना इसे तो बाह्यमें भी निमित्तके रूपमें उपकारी जानकर यह कहा गया है। आखिरकार स्वरूपकी साधना कैसे होती है? कि असंग तत्त्वका आश्रय करना यह स्वरूप साधना है। अब असंग तत्त्वका आश्रय करना और बाहरमें संग बढ़ाना या संगकी रुचि होना ये दो बातमें सुसंगतता नहीं है या कहो परस्पर विसंगत बातें हैं।

(यहाँ) प्रश्न पूछा है कि लौकिक जनके परिचयका रस क्यों? थोड़ी मार्मिक बात की है। तू अपने परिणमनकी जाँच कर तो तुझे अपने अभिप्रायका पता चलेगा। हालाँकि लौकिकजनका परिचयका रस नियमसे नुकसानका कारण होगा। जैसे सत्शास्त्रमें सत्संग पर ज़ोर दिया गया है उतना ही असत्संगके निषेध पर ज़ोर दिया गया है। यह स्वतः समझ लेना चाहिये।

फिरसे, सत्शास्त्रमें सत्संगकी महिमा जगह-जगह की है और अत्यंत महिमा की है। यह किसी निमित्ताधीन दृष्टिवालेका प्रकरण नहीं है या प्रकार नहीं है। जिन्होंने उपादानसे अपनी शक्तिको उजागर की है उन्होंने यह बात की है। धर्मात्माओंने यह बात की है, मुनियोंने-आचार्योंने यह बात की है। 'मूलाचार'में कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है कि हे मुनि! तू द्रव्यलिंगीमुनिका संग मत करना। तुझे दर्शनमोहका आवरण होगा - जो कर्तव्य नहीं है।

प्रश्नः- आत्मसाधना करने निकले हैं परन्तु गिर क्यों जाते हैं?

समाधान :- खुदकी लापरवाही। मेरा हित हो रहा है कि अहित हो रहा है? अपने परिणमन पर उतना आत्मलक्षी ध्यान भी नहीं है, अवलोकन भी नहीं है। ऐसा दृष्टिकोण नहीं अपनाया है कि परिणाममें क्या चल रहा हैं? इससे नुकसान हो रहा है कि लाभ हो रहा है? यानी कि नुकसान होते वक्त उसका ध्यान नहीं जाता और लाभ होनेका प्रश्न नहीं है।

*

(प्रवचनका शेष अंश आगेके अंकमें...)

'आत्मिक सुख'

– 'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' – पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी

(आत्मिक आनंदके विषयमें आपने कहाः) **जब एक बार आनंदकी घूँट पी ली...तब तो बार-बार वही घूँट पीनेके लिए अपनी ओर आना ही पड़ेगा। दूसरी किसी जगह परिणतिको रस ही नहीं आयेगा; बार-बार अपनी ओर आनेका ही लक्ष्य रहेगा; दूसरे सब रस उड़ जायेंगे। २१.**

*

प्रश्न :- निर्विकल्प उपयोगमें कैसा आनंद आता है?

उत्तर :- निर्विकल्प उपयोगके सुखकी तो क्या बात कहें!! लेकिन समझानेके तौर-से जैसे गन्नेके (शेरड़ीके) रसकी घूँट पीते हैं, वैसे आनंदकी घूँट.... एकके बाद एक चलती ही रहती है; उसमेंसे निकलनेका भाव ही नहीं आता। ३३.

*

आनंदके अनुभवमें तो रागसे भी भिन्न चैतन्य-गोला छुट्टा अकेला अनुभवमें आता है, उसके आनंदकी क्या बात करें!! अंदरसे निकलना ही गमे नहीं, बाहरमें आते ही भट्टी-भट्टी लगे। ९१.

*

'मैं' ऐसी भूमि हूँ जहाँसे क्षण-क्षणमें नया-नया फल उत्पन्न होता ही रहता है। जैसे भूमिसे ऋतु-ऋतुके अनुसार अनेक फल उत्पन्न होते रहते हैं, वैसे 'मैं ऐसी भूमि हूँ' जहाँसे सुखका फल उत्पन्न होता ही रहता है। 'मैं' अमृतरससे भरा हुआ हूँ। 'मैं' तो ऐसी भूमि हूँ जिसे फलके लिए जलकी भी ज़रूरत नहीं रहती, क्योंकि 'मैं' स्वयं ही सुखरूप हूँ; दूसरे पदार्थोंकी अपेक्षा ही नहीं। १८६.

*

इधर (स्वरूपमें) **दृष्टि आते ही सुखके स्रोतके स्रोत बहने लगेंगे। २७४.**

*

(निर्विकल्प दशामें) **बिजलीके करंटकी माफ़िक अतीन्द्रिय सुख प्रदेश-प्रदेशमें व्यापक होकर प्रसर जाता है। .... झनझनाहट....! काल थोड़ा होनेपर भी क्या?** (काल थोड़ा होनेसे उसकी महत्ता कम नहीं। निर्विकल्प आत्माके अतीन्द्रिय आनंदकी अनुभवदशाका माहात्म्य अचिंत्य-महिमावंत है क्योंकि एक क्षणार्धमें अनंतभवका नाश हो जाता है।) **३०५.**

पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीकी ११५वीं जन्म जयंती आनंदोल्लासपूर्वक संपन्न

परम उपकारी पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीकी ११५वीं जन्म जयंती 'गुरु–गौरव', सोनगढ़में आनंदोल्लासपूर्वक मनाई गई । इस मंगल अवसर पर बंबई, कोलकाता, अहमदाबाद, आग्रा, भावनगर इत्यादि शहरोंसे अनेक मुमुक्षुओंने लाभ लिया।

दि. २७–०४–२०२६ जन्म जयंतीके दिन बालकुंवरका पालनाझूलन, जन्मबधाई एवं गुरुभक्ति आदि कार्यक्रम सानंद संपन्न हुए ।

(पृष्ठ संख्या १८से आगे...)

संदेहको प्राप्त होकर जीव वैसे सत्पुरुषके योगका त्यागकर जिसकी बाह्यनिवृत्ति दिखायी देती है, ऐसे असत्पुरुषका दृढाग्रहसे सेवन करता है। इसलिये जिस कालमें सत्पुरुषको निवृत्तिप्रसंग रहता हो वैसे प्रसंगमें उनके समीप रहना इसे जीवके लिये विशेष हितकर समझते हैं।

इस बातका इस समय इससे विशेष लिखा जाना अशक्य है। यदि किसी प्रसंगसे हमारा समागम हो तो उस समय आप इस विषयमें पूछियेगा और कुछ विशेष कहने योग्य प्रसंग होगा तो कह सकना सम्भव है।

दीक्षा लेनेकी वारंवार इच्छा होती हो तो भी अभी उस वृत्तिको शान्त करना, और कल्याण क्या तथा वह कैसे हो इसकी वारंवार विचारणा और गवेषणा करना। इस प्रकारमें अनन्तकालसे भूल होती आयी है, इसलिये अत्यंत विचारसे कदम उठाना योग्य है।

अभी यही विनती।

रायचंदके निष्काम यथायोग्य।

*

आभार

'स्वानुभूतिप्रकाश' (मई–२०२६, हिन्दी एवं गुजराती) के इस अंककी समर्पणराशि
श्रीमती ज्योतिबहन किरीटभाई उदाणी, अमरिका
की ओरसे ट्रस्टको साभार प्राप्त हुई है।
अतएव यह पाठकोंको आत्मकल्याण हेतु भेजा जा रहा है।

ज्ञानलक्षणसे ज्ञायककी पहचान !

तत्त्वचर्चा मंगलवाणी-सीडी -१५ -C
- प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन

मुमुक्षु :- लक्षण पकड़ने की ताकत भी मति-श्रुतज्ञान में है।

समाधान :- लक्षण भी मति-श्रुत द्वारा ही पकड़ में आता है कि यह ज्ञानलक्षण है। वह मति और श्रुत द्वारा ही पकड़ में आता है। ये असाधारण ज्ञान, यह ज्ञानलक्षण है वह मैं हूँ। ज्ञानलक्षणसे ज्ञायक पहचानने में आता है। वह मति-श्रुत द्वारा ही पहचानने में आता है। उसका प्रयोजनभूत ज्ञान हो तो उससे पहचानने में आये। उसे मति-श्रुत में अधिक ज्ञान हो या शास्त्र का अधिक अभ्यास हो अथवा अधिक रटन किया हो, अभ्यास किया हो अथवा अधिक बोलना आता हो या कुछ सीख लिया हो तो आता है, ऐसा नहीं है। मति-श्रुत एक आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को पहचाने। प्रयोजनभूत तत्त्व को पहचाने तो वह समझ सके ऐसा है। उसमें बहुत ज्यादा उघाड़ हो अथवा बहुत ज्यादा याद रहता हो तो पहचानने में आये ऐसा भी नहीं है। मति-श्रुत प्रयोजनभूत जाने, तत्त्व को जाने, तत्त्वज्ञान प्रयोजनभूत हो तो आत्मा को पहचान सकता है।

मुमुक्षु :- दूसरा प्रश्न है, माताजी! आश्रयभूत तत्त्व का अवलम्बन लेनेपर सम्यग्दर्शनसे लेकर केवलज्ञान पर्यंत की पर्याय प्रगट होती है, यह अवलम्बन साधकदशा में होता है या सिद्धदशा में भी चालू रहता है? यह कृपा करके अधिक स्पष्ट करके समझाइये।

समाधान :- अवलम्बन साधकदशा में रहता है। सिद्धदशा में, आलम्बन जो लिया वह आलम्बन आलम्बन परिणतिरूप रह जाता है। उसमें उसे कोई कोई प्रयत्न करने की जरूरत नहीं रहती। साधकदशा में प्रयत्नरूप है। आत्मा का आलम्बन लिया, सम्यग्दर्शनसे लेकर केवलज्ञान पर्यंत जो आत्मा का आलम्बन लिया, आत्मा ही उसे आश्रयभूत, आत्मा ही उसे मुख्यरूप उसकी दृष्टि में रहा, उसके आश्रय में रहा, उसने बलवानरूपसे आत्मा को ग्रहण किया। बलवानरूपसे आत्मा को ग्रहण किया, सिद्धदशा पर्यंत। फिर उसे प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। जो आलम्बन मुख्यरूपसे द्रव्य पर जो दृष्टि जोरदार थी, वह वैसे ही परिणतिरूप उसे सहजरूप हो जाता है। फिर वहाँ आलम्बन की जरूरत नहीं है। लेकिन जो आश्रय लिया उस आश्रयरूप स्वयं परिणमित हो जाता है। द्रव्य और पर्याय दोनों। द्रव्य स्वयं जो मुख्यरूपसे लक्ष्य में लिया उसका आश्रय, पर्याय निर्मलतारूप परिणमित हो जाती है। बाकी साधकदशा में तो आत्मा ही उसे आश्रयभूत है। सम्यग्दर्शन, उसमें आत्मा का ही आश्रय है। उसे संवर, निर्जरा आदि जो कुछ भी होता है वह आत्मा के आश्रयसे ही होता है।

मेरा आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र सब मेरा आत्मा ही है। और मेरे आश्रय में भी आत्मा है। सम्यग्दृष्टि को उसके आश्रय में आत्मा है। चारित्र के आश्रय में भी आत्मा ही है। सब में आत्मा है। चारित्र में भी आत्मा का आश्रय मुख्य है। बाहरसे शुभभाव अमुक जात के उसकी भूमिका अनुसार होते हैं, पंच महाव्रत के, अणुव्रत के, लेकिन उसे अंतरसे जो चारित्र यथार्थरूपसे प्रगट होता है वह आत्माके आश्रयसे प्रगट होता है। चारित्र में भी आत्मा का आश्रय है, संवर में आत्मा का आश्रय है, प्रत्याख्यान में आत्मा का आश्रय है, प्रत्याख्यान बाहरसे किया ऐसे नहीं, वह तो शुभभाव है। अंतर आत्मा के आश्रयसे ही सब होता है। आत्मा का जो आलम्बन लिया वह पूर्णता पर्यंत रहता है। फिर श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान हो, कृतकृत्य दशा हो गयी, फिर कुछ करना बाकी नहीं रहता। आलम्बन है वह आलम्बन सहज परिणतिरूप, आत्मा आत्मारूप परिणमित हो जाता है। जैसा है वैसा प्रगटरूपसे परिणमित हो जाता है। सिद्धदशा पर्यंत। फिर आलम्बन का प्रयत्न करना नहीं रहता। आलम्बन सहजरूपसे परिणमित हो जाता है।

मुमुक्षु :– माताजी! साधकदशा में आलम्बन रहा, वह निर्विकल्प दशा में रहे तो सविकल्प दशा में कैसे होता है?

समाधान :– सविकल्पदशा में आश्रय है, निर्विकल्पदशा में सहज निर्विकल्परूप है। सहज परिणतिरूप है। द्रव्य की जो मुख्यता हुई वह मुख्यता निर्विकल्पदशा में भी सहजरूप है। और बाहर आये तो भी उसे आश्रय का ख्याल है और साधकपने में मुख्य ज़ोर आश्रयभूत आत्मा का रहता है। सविकल्पदशा में जो आश्रय लिया वह निर्विकल्पदशा में सहजरूप रह जाता है। मुख्यरूप द्रव्य जैसा है उसरूप उसकी परिणति रह जाती है। जैसा निर्विकल्प दशा में अंश में है, वैसा पूर्णता में, केवलज्ञान हुआ तो भी वैसा सहज रह जाता है।

*

(तत्त्वचर्चाका शेष अंश आगेके अंकमें...)

(पृष्ठ संख्या ०२से आगे...)

उपयोग है उस उपयोगका भी कोई हरण करनेमें सक्षम नहीं है। १७२ गाथामें लिया न? कि, उपयोग नामका लक्षण है, आत्माका चिह्न है उसका कोई हरण नहीं कर सकता। मेरे उपयोगको कोई खींच ले, आकर्षित कर जाये ऐसा जगतमें कोई पदार्थ नहीं है जो इसका हरण कर सके। इतना ही नहीं जो उपयोग बाहर जाता है वह उपयोग ही मेरा नहीं, वह मेरा स्वरूप नहीं, ऐसा लिया है। – इस विषयमें पूज्य गुरुदेवश्रीके अद्‌भुत प्रवचन हुए हैं!!

*

(प्रवचनांश...'बहिनश्रीके वचनामृत' बोल क्र.–११६, दि.१७–०५–८७, प्रवचन क्र.–९०, 'अध्यात्म सुधा' भाग–३, पन्ना क्र. – ४९५,४९६)

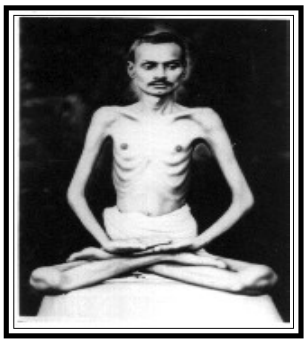

– परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी राजहृदय !!

पत्रांक – ४०१

बंबई, भादों सुदी १, मंगल, १९४८

ॐ सत्

शुभवृत्ति मणिलाल, बोटाद।

आपका वैराग्यादिके विचारवाला एक सविस्तर पत्र तीनेक दिन पहले मिला है।

जीवमें वैराग्य उत्पन्न होना इसे एक महान गुण मानते है; और उसके साथ शम, दम, विवेकादि साधन अनुक्रमसे उत्पन्न होनेरूप योग प्राप्त हो तो जीवको कल्याणकी प्राप्ति सुलभ होती है, ऐसा समझते हैं। (ऊपरकी पंक्तिमें 'योग' शब्द लिखा है, उसका अर्थ प्रसंग अथवा सत्संग समझना चाहिये।)

अनंत कालसे जीवका संसारमें परिभ्रमण हो रहा है, और इस परिभ्रमणमें इसने अनंत जप, तप, वैराग्य आदि साधन किये प्रतीत होते हैं, तथापि जिससे यथार्थ कल्याण सिद्ध होता है, ऐसा एक भी साधन हो सका हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। ऐसे तप, जप या वैराग्य अथवा दूसरे साधन मात्र संसाररूप हुए हैं; वैसा किस कारणसे हुआ? यह बात अवश्य बारंबार विचारणीय है। (यहाँ किसी भी प्रकारसे जप, तप, वैराग्य आदि साधन निष्फल हैं, ऐसा कहनेका हेतु नहीं है, परंतु निष्फल हुए हैं, उसका हेतु क्या होगा? उसका विचार करनेके लिये लिखा गया है। कल्याणकी प्राप्ति जिसे होती है, ऐसे जीवमें वैराग्यादि साधन तो अवश्य होते हैं।)

श्री सुभाग्यभाईके कहनेसे, यह पत्र जिसकी ओरसे लिखा गया है, उसके लिये आपने जो कुछ श्रवण किया है, वह उनका कहना यथातथ्य है या नहीं? यह भी निर्धार करने जैसी बात है।

हमारे सत्संगमें निरंतर रहने संबंधी आपकी जो इच्छा है, उसके विषयमें अभी कुछ लिख सकना अशक्य है।

आपके जाननेमें आया होगा कि यहाँ हमारा जो रहना होता है वह उपाधिपूर्वक होता है, और वह उपाधि इस प्रकारसे है कि वैसे प्रसंगमें श्री तीर्थंकर जैसे पुरुषके विषयमें निर्धार करना हो तो भी विकट होता है, क्योंकि अनादिकालसे जीवको मात्र बाह्य प्रवृत्ति अथवा बाह्य निवृत्तिकी पहचान है, और उसके आधारसे ही वह सत्पुरुष, असत्पुरुषकी कल्पना करता आया है। कदाचित् किसी सत्संगके योगसे 'सत्पुरुष ये हैं,' ऐसा जीवके जाननेमें आता है, तो भी फिर उनका बाह्य प्रवृत्तिरूप योग देखकर जैसा चाहिये वैसा निश्चय नही रहता; अधवा तो निरंतर बढ़ता हुआ भक्तिभाव नहीं रहता; और कभी तो

(अनुसंधान पृष्ठ संख्या १५ पर..)

'स्वानुभूतिप्रकाश' पत्रिका सम्बन्धित महत्वपूर्ण सूचना

जयजिनेन्द्र! इससे यह सूचित किया जाता है कि 'स्वानुभूतिप्रकाश' आध्यात्मिक मासिक पत्रिका हिन्दी/गुजरातीमें पिछले २८ सालसे आपके स्वाध्याय हेतु भेजी जा रही है। अब इसे काफ़ी समय होनेसे कई पते बदल चुके हो या पत्रिकाका सदुपयोग न होकर किसी भी प्रकारकी असातना होनेकी संभवितताको देखते हुए यह पत्रिकाको आगे प्राप्त करनेके इच्छुक सभी मुमुक्षुओंको पुनः अनिवार्यरूपसे अपने पतेका registration करवाना होगा – ऐसा ट्रस्ट द्वारा नक्की किया गया है।

इसके तहत आगामी अक्टूबर–२०२६ तककी समयसीमामें अपने पतेकी पूरी जानकारी नीचे दिये गये फॉर्ममें लिखकर इसकी फ़ोटो हमारे whats app नं. ९४०८३०३१५२ पर भेजना होगा। नवम्बर–२०२६ से केवल पुनः registered पते पर यह पत्रिका भेजी जायेगी। जो मुमुक्षु अपना registration नहीं करवायेंगे उन्हें इस पत्रिकाकी उपयोगिता एवं आवश्यकता नहीं है यह समझकर उन्हें यह पत्रिका नहीं भेजी जायेगी। कृपया इस बातको ध्यानमें लेंवे।

आपको हार्ड कॉपी या pdf file या दोनों – जिसकी भी आवश्यकता हो उसे बॉक्समें टिक करें।

–प्रबंध ट्रस्टी
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट

हार्ड कॉपी ☐ pdf फ़ाइल ☐

वर्तमान रजिस्टर्ड नं. :– _____

नाम :– _____

पता :– _____

_____

पिनकोडः– _____

मोबाइल नं :– _____

REGISTERED NO. : BVHO - 253 / 2024-2026
RENEWED UPTO : 31/12/2026
R.N.I. NO. : 70640/97
Title Code : GUJHIN00241
Published : 10th of Every month at BHAV.
Posted at 10th of Every month at BHAV. RMS
Total Page : 20

'सत्पुरुषों का योगबल जगत का कल्याण करे'

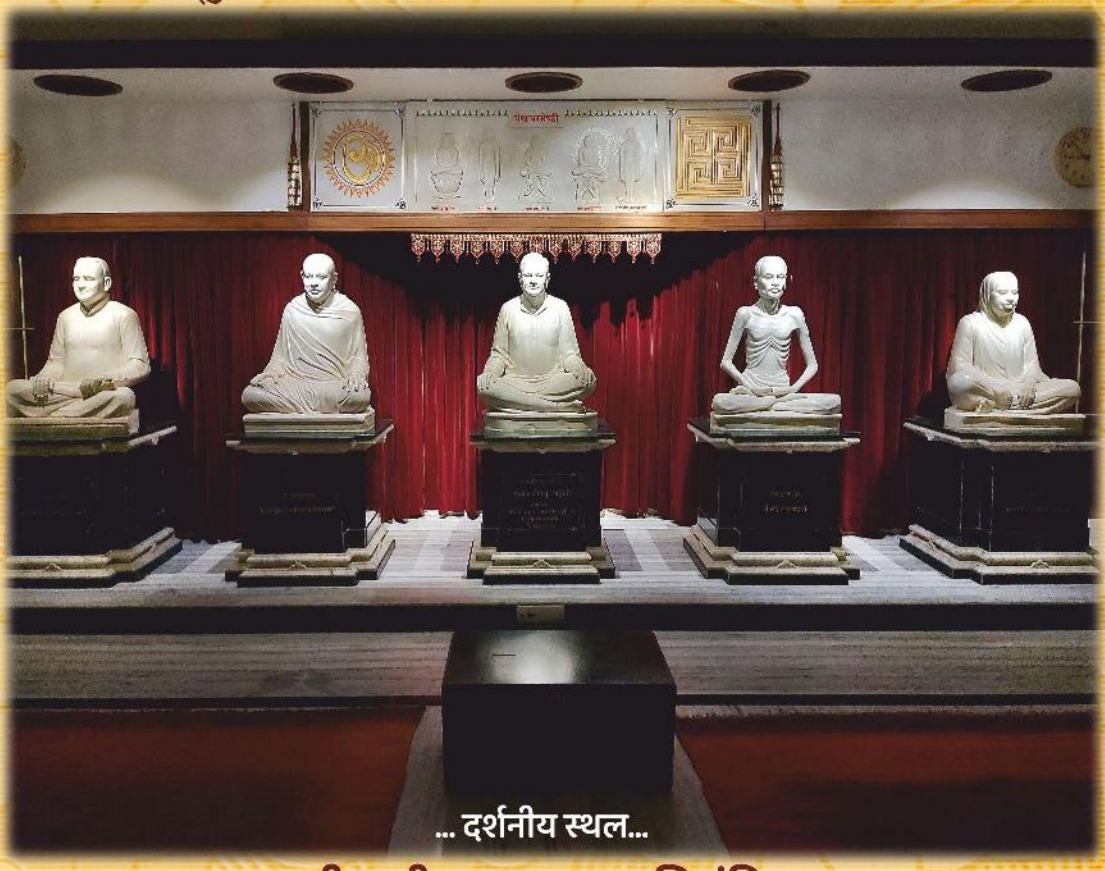

... दर्शनीय स्थल...

श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर
भावनगर

स्वत्वाधिकारी श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट की ओर से मुद्रक तथा प्रकाशक श्री नीरव धर्मेन्द्र वोरा द्वारा अजय ऑफसेट, १२-सी, बंसीधर एस्टेट, बारडोलपुरा, अहमदाबाद - ३८० ०१६ से मुद्रित एवं १९४२ - बी, शशीप्रभु मार्ग, रूपाणी, भावनगर - ३६४ ००१ से प्रकाशित ।

संपादक : श्री नीरव धर्मेन्द्र वोरा - 98250 52913

Printed Edition : **3475**
Visit us at : http://www.satshrut.org

If undelivered please return to ...

Shri Shashiprabhu Sadhana Smruti Mandir
1942/B, Shashiprabhu Marg, Rupani,
Bhavnagar - 364 001

mayur print 9374825041